महर्षि दयानन्द द्वारा उद्घोषित राजधम

कृष्ण कान्त वैदिक शास्त्री, देहरादून।

म्हर्षि दयानन्द सरस्वती ने 10 अपैल 1875 को आर्य समाज की स्थापना की। उनकी यह एक बड़ी देन है कि भूले हुए वेदों से उन्होंने फिर से हमें परिचित कराया और वेदों के ज्ञान को समस्त विद्याओं का मूल बताया । उन्होंने न केवल वेदों का भाष्य किया अपितु सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य–भूमिका, आर्याभिविनय, संस्कारविधि आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। महर्षि के ह्रदय में मातृभूमि का सर्वोपरि स्थान था और देश प्रेम की भावना उनमें कूटकूट कर भरी हुई थी। उन्होंने स्वदेश, स्वसाहित्य, स्वभाषा, स्वसंस्कृति और स्वधर्म के महत्व पर अत्यन्त बल दिया। उनके द्वारा धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए पक्षपात रहित न्याय और सबका हित करना धर्म है। यह धर्म प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध किए जाने योग्य और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के मानने योग्य हैं। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड में धर्म की विस्तृत व्याख्या करते हुए इसका अर्थ सत्य, न्याय, सहिष्णुता ,परोपकार, संयम, तप और दया आदि किया गया है। साथ ही इन्हें धर्म के सार्वभौम सिद्धान्त भी बताया गया है। वेद में मनुष्यों के लिए विधि अर्थात् करने योग्य और निषेध अर्थात् न करने योग्य बातों का वर्णन, ईश्वर प्राप्ति के लिए स्तुति, प्रार्थना, उपासना और मनुष्य के कल्याण के लिए आवश्यक ज्ञान बीज रूप में दिया गया है, इसलिए इसके पालन में किसी को भी कोई शंका या कठिनाई नहीं होनी चाहिए। आज विभिन्न संप्रदायों में जो ईश्वर प्राप्ति हेतु विभिन्न पूजा पद्धतियां हैं, को ही हम धर्म समझ लेते हैं या ऐसा कहें कि धर्म ही संप्रदाय के लिए प्रयोग में आने के कारण संप्रदायों के लिए भी रूढ़ हो गया है। महर्षि ने सत्यार्थप्रकाश के छठे सम्मुलास में राजधर्म का प्रतिपादन किया है। यजुर्वेद के एक मंत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि राष्ट्रधर्म या राजधर्म उसे कहते हैं जिसमें राजन् सभाध्यक्ष सब प्रकार की शिक्षा प्रापत कर विद्वानों को अपने साथ शासन के लिए सम्मिलित करते हुए, सेना की उचित रूप से सहायता लेते हुए और उनकी रक्षा करते हुए प्रजा का पालन करे। वर्तमान समय में एक कल्याणकारी राज्य में राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री से भी यही कार्य करने की अपेक्षाएं की जाती हैं। महर्षि ने विभिन्न वेद मंत्रों की व्याख्या करते हुए और अपने ग्रन्थों, सत्यार्थप्रकाश आदि में कहा है कि सब राज्याधिकार, सेनापतियों और सेना के बीच राज्याधिकार, दण्ड देने की व्यवस्था सम्बधी कार्यों का दायित्व आदि इन समस्त कार्यों का आधिपत्य वेदशास्त्रों में प्रवीण, पूर्ण विद्या वाले, धर्मात्मा, और जितेन्द्रिय होने चाहिएं अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य'' न्यायाधीश, प्रधान और राजा ये सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहियें। राजा और सभासदों को इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला, अधर्म न करने वाला और योगाभ्यासी होना चाहिए। राजा को निरंकुश, तानाशाह, और वंशानुगत नहीं होना चाहिए। वह प्रजा द्वारा चुना हुआ शासक ही होना चाहिए। अथर्ववेद में प्रजा के द्वारा राजा का चुनाव किया जाय , ऐसा उल्लेख अनेक बार किया गया है। अथर्व0 के मन्त्र सं. (3/4/2) में कहा गया है–**''त्वां दिशां वृणता राज्याय''** अर्थात् ''हे राजन सारी प्रजायें राज्य करने के लिए तुम्हें चुने''। राजा और प्रजा के सम्बन्ध मधुर होने चाहिए। यजुर्वेद के एक मन्त्र (30/2) का भाष्य करते हुए महर्षि कहते हैं कि जैसे परमेश्वर जीवों को अशुभ आचरण से अलग कर शुभ आचरण में प्रवृत्त करता है, वैसे राजा भी करे। जैसे परमेश्वर में पितृभाव करते अर्थात् उस को पिता मानते हैं, वैसे राजा को भी मानें। जैसे परमेश्वर जीवों में पुत्र भाव का आचरण करता है, वैसे राजा भी प्रजाओं में पुत्रवत् वर्त्ते। जैसे परमेश्वर सब दोष, क्लेश और अन्यायों से निवृत्त है, वैसे राजा भी होवे। महर्षि यजुर्वेद के मन्त्र (20/50)की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि परमात्माको राजा मानने वाला कभी पराजित नहीं होता वह सदा अपराजेय रहता है। यजुर्वेद के ही विभिन्न मन्त्रों के आधार पर महर्षि ने राजा के गुणों का वर्णन किया है। उनके अनुसार राजा को अपना मस्तिष्क शुभ कर्मों में प्रेरित करना चाहिए। उसे धर्म के आचरण से पवित्र होना चाहिए और कार्यों को शीघ्र निष्पादित करने वाला होना चाहिए। वह आलसी न हो। राजा को अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करना चाहिए, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठों को सुख देना चाहिए। उसे न्यायकारी , शुभलक्षणयुक्त होना चाहिए। राजा अपराध के अनुकूल

प्रजा को दण्ड देवे किन्तु निरपराधी को बिना किसी कारण के पीड़ा न देवे। महर्षि वेद के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि राजा और प्रजा के सम्बन्ध रूपी व्यवहार में तीन सभायें अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्य सभा और राजार्यसभा नियत कर के समस्त प्रजा को स्वातंत्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करना चाहिए। एक व्यक्ति को राज्य का स्वतन्त्र अधिकार नहीं देना चाहिए अर्थात् राजा निरंकुश नहीं होना चाहिए उसे सभापति के अधीन होना चाहिए। सभापति के अधीन सभा, राजा और सभा प्रजा के अधीन, ये सभी प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहे। हमारे संविधान के अन्तर्ग वर्तमान संसदीय प्रणाली और प्रजा तन्त्र के चार स्तम्भों–कार्यपालिका, संसद, न्यायपालिका और प्रैस की व्यवस्था में राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश और प्रैस का स्वतन्त्र होते हुए भी एक–दूसरे पर नियंत्रण रहता है जिससे कोई भी संस्था निरंकुश रूप से शासन नहीं कर सकती है। वेद में तीन प्रकार के राज्य बताए गये हैं, छोटे–छोटे मांडलिक राज्य जिसके प्रधान के लिए राजा और उसके पर्याय नृपति आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है, इनके ऊपर बड़े राज्य बताये गये हैं। इन सबसे ऊपर चक्रवर्ती राज्य का वर्णन महर्षि द्वारा अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर किया गया है। ऐसा राजा होने पर राष्ट्रों के आपस के झगड़ें मिट सकते हैं। अथर्ववेद के सातवे काण्ड के बारहवें सूक्त में राज्य की सीमा का वर्णन किया गया है। राज सभा के दो सदन होने चाहिए– एक सदन का नाम **''सभा''** और दूसरे सदन का नाम **''समिति''** कहा गया है। अथर्ववेद में इन सदनों के सदस्यों को **''पितर''** कहा गया है। पितर शब्द से इन सदस्यों का समाज में उच्च स्थान माना जाना प्रतीत होता है। ब्रिटेन जैसे देशों में इसे हाउस ऑफ लॉर्ड्स और भारत में राज्य सभा (अपर हाउस) कहा जाता है। वेदों में प्रतिपादित नियमों के अनुसार स्त्रियां भी इन सदनों की सदस्य चुनी जा सकती हैं। वे सम्राट और न्यायाधीश भी चुनी जा सकती थीं। आज जब हम स्त्री स्वातंत्र्य की बात करते हैं तो यह पाते हैं कि अभी हाल के कुछ वर्ष पूर्व तक यूरोप के कई देशों और अमेरिका में उन्हें मत देने का अधिकार भी प्राप्त नहीं था। वेदों में वर्णित राज्य व्यवस्था में कर की व्यवस्था किस प्रकार की जाय, कृषि आदि में राज्य किस प्रकार से सहायता करे, राज्य की सड़कों का निर्माण किस प्रकार किया जाय, गौओं आदि विभिन्न पशुओं के पालने में राज्य किस प्रकार सहायक हो, कर किस प्रकार से लगाया जाय आदि विभिन्न विषयों का विस्तार से उल्लेख किया गया है जो वर्तमान राज्य व्यवस्था से हर प्रकार से उत्तम कहा जा सकता है। देश की रक्षा के लिए शक्तिशाली सेना रखने की बात कही गई है। यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सत्य, न्याय, परोपकार, सहिष्णुता, तप और संयम आदि धर्म के सार्वभौम सिद्धान्त हैं। वेदों में न्याय व्यवस्था के बारे में भी विस्तृत वर्णन मिलता है।'' सभा, राजा, और राजपुरुषादि नये नियमों का निर्माण कर के उनके द्वारा ही न्याय करें। जो नियम शास्त्रोक्त न पावें और उनके होनक की आवश्यकता जानें तो उत्तमोत्तम नियम बांधे कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो। न्यायव्यवस्था में दण्ड के प्रकारों का वर्णन किया गया है कि प्रथम दण्ड वाणी का दण्ड अर्थात् **'निन्दा'** दूसरा **'धिक'** अर्थात् तुम को धिक्कार है, तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया ? तीसरा उससे **'धन लेना'** और चौथा **'वध'** दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा व बेंत मारना या उसका शिर काट देना। वैदिक दण्ड व्यवस्था में दुष्टाचारियों को दग्ध करनेका भी निर्देश दिया गया है। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद महर्षि द्वारा वेदों के की ज्ञान गंगा से निकाले गये इन मोती रूपी बिन्दुओं पर सरकार द्वारा विचार करने के उपरान्त भारत को कल्याणकारी राज्य बनाने के लिए बहुत प्रयास किये जा चुके हैं और अभी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। महर्षि ने देश और समाज पर अनेक उपकार किये हैं। हम उन्हें शत–शत नमन करते हैं।

कृष्ण कान्त वैदिक,शास्त्री
पताः नेहरू कालोनी, धर्मपुर,
देहरादून–248001
फोनः 09336225967